# शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य के मत में जीव का विभुत्व और अणुत्व

**Swati Sharma**
**Research Scholar,**
**Dayalbagh Educational Institute Agra.**

जीव के परिणाम के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के मतों में पर्याप्त भेद है। **अद्वैतवादी** दार्शनिक तथा **नैयायिक** जीव को **विभुपरिमाण** मानते हैं। **जैन मत में** जीव को **देहपरिमाण** माना गया है। इनके अनुसार जीवात्मा जैसा शरीर ग्रहण करती है उसी आकार और परिमाण में परिवर्तित हो जाती है। वैष्णव वेदान्तियों **रामानुज मध्वादि** के मत में जीव का **अणु–परिमाण** है। इस विषय में दार्शनिकों के मत परस्पर विरोधी हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवात्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, वह परिमाण रहित है, फिर भी औपचारिकतावश उसे 'विभु' परिमाण कहा जाता है जैसे परम महत् अपरिमित आकाश को विभु सम्बोधित किया जाता है। अचार्य शंकर के अनुसार जीव परब्रह्म स्वरूप है, तो जो स्वरूप और परिमाण परब्रह्म का है वही परिमाण जीव का भी होना चाहिए।[1] अतः जीवात्मा विभु परिमाण वाला है। श्रुतियों में भी जीवात्मा के विभुत्व को प्रतिपादित किया गया है।[2]

आचार्य रामानुज ने जीवात्मा को अणु परिमाण वाला माना है।[3] आत्मा को अणु परिमाण इसलिए कहा जाता है क्योंकि हृदय–प्रदेश से जीवात्मा का उत्क्रमण, गमन, आगमन[4] आदि का वर्णन शास्त्रों में भी मिलता है।[5] जिस प्रकार मणि आदि रत्न तथा दीपकादि के एक स्थान पर स्थित रहने पर भी उनकी प्रभा सर्वत्र प्रसारित होती रहती है, उसी प्रकार ज्ञान सर्वत्र फैल जाता है और वह अणु जीवात्मा अपने धर्मभूतज्ञान के द्वारा समस्त शरीर के सुख–दुःखादि का अनुभव करता है।[6] जीवात्मा में धर्मभूतज्ञान के व्यापक होने के कारण मुक्त–जीव एक काल में ही अनेक शरीर धारण करने में समर्थ होते हैं।[7] आत्मा के अणुत्व सिद्धि के लिए आचार्य रामानुज ने श्रुतियों को उद्धृत किया है। मुण्डकोपनिषद्[8] में वर्णित है –

**''एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश''**

अर्थात् यह आत्मा अणुरूप है। इसे विशुद्ध चित्त द्वारा जाना जा सकता है। यही सूक्ष्म आत्मा पञ्च–प्राणों को गति प्रदान करता है। बृहदारण्यकोपनिषद्[9] में वर्णित है–

**''बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः सः वेज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।''**

अर्थात् बालाग्रशत भाग के भी शत भाग से सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम जीव का है जिसे केवल मन के द्वारा जाना जा सकता है।

वैष्णवाचार्यों ने जीवाणुत्ववाद की पुष्टि के लिये जो उद्धरण प्रस्तुत किये है, अद्वैतवादी आचार्यों ने उनका तार्किक खण्डन किया है। आचार्य शंकर के अनुसार यदि जीवात्मा को अणु परिमाण माना जाए तो वह पूर्ण शरीर में व्याप्त हो कर

चेतना का प्रसार नहीं कर सकता है क्योंकि गुण गुणी के बिना नहीं रह सकता।[10] विशिष्टाद्वैत वेदान्त में जो यह कहा गया है कि प्रदीप की प्रभा के समान एक स्थान में रहता हुआ भी जीव की चेतना सर्व शरीर में हो सकती है, तो भी यह उपपन्न नहीं होता है। प्रदीप–प्रभा स्वयं द्रव्य है, प्रदीप की ज्वाला तथा प्रदीप की प्रभा दोनों द्रव्य हैं, उनमें गुण–गुणी का सम्बन्ध नहीं है।[11]

श्रुतियों में जीव विभुत्व प्रतिपादक वाक्यों के साथ–साथ अणुत्व प्रतिपादक वाक्य भी प्राप्त होते हैं। इस विषय में आचार्य शंकर कहते हैं कि वस्तुतः जीवात्मा–परमात्मा में भेद नहीं है और जो भेद प्रत्यक्षभूत होता है वह अन्तःकरण रूप उपाधि के कारण है। परमात्मा विभु है तो जीव भी विभु–परिमाण है। श्रुतियों में जो जीवात्मा के अणु–परिणाम की बात कही गयी है; वहाँ भी ऐसा उपाधि के कारण कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है–

**''बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्र मात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः'' ।[12]**

अर्थात् अणुत्व बुद्धि का गुण है, उसको आत्मा में आरोपित करके आत्मा का गुण कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा विभु है फिर भी अणु सा प्रतीत होता है।

आचार्य शंकर के अनुसार बुद्धि रूप उपाधि के गुणों की प्रधानता के कारण बुद्धि–परिमाण (अणुत्व) का जीव में व्यपदेश होता है। जीव परमार्थतः विभु है, किन्तु स्वोपाधि बुद्धि–वशात् अणु सा प्रतीत होता है, अर्थात् जीव का आनन्त्य और विभुत्व पारमार्थिक है और अणुत्व औपचारिक–मात्र है। आचार्य शंकर का कथन है कि–परब्रह्म को श्रुतियों में विभु कहा गया है उससे जीव भी विभु है। यदि जीव का चैतन्य समस्त शरीर को व्याप्त करेगा तो जीव अणु न होगा, क्योंकि जैसे औष्ण्य और प्रकाश अग्नि स्वरूप है, वैसे चैतन्य ही जीव का स्वरूप है। इसमें गुणगुणी विभाग नहीं है। परिशेष से जीव विभु है। तो शंका होती है कि उसमें अणुत्व आदि व्यपदेश किस प्रकार है। इस शंका के समाधान में आचार्य शंकर कहते हैं – ''**तद्गुणसारत्वात्त तद्व्यपदेशः**''। बुद्धि के गुण वे तद्गुण–इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि तद्गुण–सार–प्रधान जिस आत्मा के संसारित्व में सम्भव है। वह तद्गुणसार, उसका भाव तद्गुणसारत्व है, क्योंकि बुद्धि के गुणों के बिना केवल आत्मा में संसारित्व नहीं है। अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्य मुक्त होते हुए आत्म का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप संसारित्व बुद्धि–उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण हैं, इसलिए तद्गुणसारत्व होने से बुद्धि के परिमाण से इसका परिमाण व्यपदेश है और बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि से जीव की उत्क्रान्ति आदि का व्यपदेश है। उसके परिमाण और उत्क्रमण आदि स्वाभाविक नहीं है–

**नैतदस्ति – अणुरात्मेति। उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात्तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद्ब्रह्मजीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति। परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्, तस्माद्विभुर्जीवः।**

**यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ। नात्र गुणगुणिविभागो विद्यते इति। शरीर–परिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद्विभुर्जीवः। कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह– तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः इति। तस्या बुद्धिर्गुणास्तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्बिना केवलस्यात्मनः संसारित्वम् अस्ति। बुद्धचुपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः। तस्मात्तद्गुणसारत्वाद् बुद्धि परिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः।**[13]

जिस प्रकार पत्थर से बनी मूर्ती पत्थर ही है, तो भी पत्थर की मर्ति ऐसा केवल काल्पनिक भेद व्यवहार होता है[14] वैसे इस प्रकरण में भी समझना चाहिए। शंकराचार्य आत्मा को अणु नहीं अपितु पूर्ण एवं विभु मानते हैं। जीवात्मा स्वरूपतः ब्रह्म ही है, अवयव–रहित चैतन्य का अंश नहीं हो सकता। **अंशइवांशो न ही निरवयवयस्य मुख्योंऽशः सम्भवतिः।**[15] आत्मा ही वह तत्त्व है जो स्वयं कूटस्थ होते हुए भी जीव में क्रिया एवं प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। शंकराचार्य के इस मत को सागरगत जल एवं जल की एक बूंद के उद्धरण से समझा जा सकता है। **जल की एक बूंद भी स्वरूपतः उतनी ही पूर्ण है जितना सम्पूर्ण सागर का जल। वह बूंद केवल सागर के जल की बूंद अर्थात् सागर के अंशत्व का ही अस्तित्व नही रखती है। जो स्वरूप सागर की सम्पूर्ण जल राशी का है–$H_2O$, यहीं पूर्ण स्वरूप जल की एक बूंद का भी – $H_2O$।** इन दोनों में जो सागर एवं बूंद का भेद प्रतिभासित हो रहा है वह केवल उपाधि मात्र का है। सागर जल की समष्टि है तथा बूंद जल की व्यष्टि है। इस प्रकार दोनों में भेद होते हुये भी अभेद है। यही सम्बन्ध जीव, ब्रह्म, ईश्वर एवं आत्मा का है।

जीवात्मा भी सच्चिदानन्द स्वरूप है। योगी जन योग में तप द्वारा इसी की अनुभूति करते हैं एवं आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य का साक्षात्कार करते हैं। जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है, सुखदुःख, रागद्वेष आदि संकल्पात्मक एवं विकल्पात्मक मन के धर्म है। इन भावों की अनुभूति तो मन एवं बुद्धि उपाधि धारक जीव को होती है। आत्मा सर्वथा विशुद्ध एवं विकार रहित है। परन्तु अध्यास के द्वारा मन के धर्म आत्मा में आरोपित हो जाते हैं। **आचार्य नृसिंह सरस्वती** ने **वेदान्तडिण्डिम** में जीवात्मा के स्वरूप के विषय में इस प्रकार विचार प्रस्तुत किये हैं– सत्, चित् एवं आनन्दरूप होने के कारण यह जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है, यह सिद्धान्त श्रुति प्रमाण के श्रवण द्वारा एवं प्रत्यगभिन्न अद्वय ब्रह्म तत्त्व के सतत मनन एवं निदिध्यास द्वारा स्पष्ट ही अनुभूत होता है। यही 'सर्वजन सुखाय', 'सर्वजनहिताय' वेदान्त का प्रामाणिक डिण्डिम–घोष है। सत्ता रूप से भी जीव एवं ब्रह्म का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि सत्ता पूर्ण एक अखण्डित व्यापक पदार्थ है, उसमें किसी प्रकार से भी कोई भेद नहीं कर सकता। इस प्रकार स्फूर्ति चैतन्यरूप से भी जीव ब्रह्म का भेद नहीं हो सकता। अतः जीव चैतन्य एवं ब्रह्म चैतन्य में किसी भी प्रकार की विभिन्नता नहीं है, क्योंकि चैतन्य स्फूर्ति भी पूर्ण, एकरस, निराकार, अखण्ड एवं सर्वगत है, सत्ता से अभिन्न है।

## सन्दर्भ


1. परमेव चेद् ब्रह्मजीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति। परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम् तस्माद्विभुजीवः। ब्र.सू.शा.भा.–2/3/29
2. (क) स व एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ.उ.–4/4/22) (ख) महतो महीयान् (क.उप.), तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि (ग) नित्यः सर्वगतः स्थाणु–गीता–2/24
3. स चायमात्माऽणुपरिमाणः–श्री.भा.–2/3/31
4. (क) श्री.भा.–2/3/20 (ख) उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्चन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।। श्रीमद्भगवद्गीता–15/10
5. अणुत्वं कथमिति चेत् हृदयप्रदेशादुत्क्रमणगमनागमनानां शास्त्रेणोक्त्वादणुत्वं भवति।। (तत्त्वत्रय, पृ.सं.–13)
6. मणिद्युमणि दीपदीनामेकदेशस्थानां प्रभा यथा सर्वत्रव्याप्नोति तथा ज्ञानं सर्वत्र व्याप्नोत्यतो न तद्भोग विरोधः। (तत्त्वत्रय, पृ.सं.–14)
7. (क) एकस्यैकदेशकालेऽनेकशरीरपरिग्रहश्च ज्ञानव्याप्त्या।। उपरिवत्, पृ.सं.–14 (ख) धर्मभूत ज्ञानव्याप्तयोपपत्तेः। एतेनैव सौभरिप्रभृतीनां मुक्तानां युगपदनेक शरीरपरिग्रहोऽपि सम्भवति–(यतीन्द्रमतदीपिका)
8. मुण्डकोपनिषद्–3/1/9
9. बृहदारण्यकोपनिषद्–5/9
10. ब्र.सू.शा.भा.–2/3/29
11. सिद्धान्तलेश संग्रह,– पृ.सं.–398–399
12. श्वेताश्वतरोपनिषद्–6/8
13. ब्र.सू.शा.भा.–2/3/29
14. ब्र.सू.शा.भा.–2/3/29 सत्यानन्दी–दीपिका
15. ब्र.सू.शा.भा.–2/3/43